जैन साधना एवं योग के क्षेत्र में आचार्य हरिभद्र सूरि की अनुपम देन : आठ योग दृष्टियाँ

❑ महेन्द्रकुमार रांकावत (M.A.)

जैन साधना एवं योग का क्षेत्र अतीव विस्तृत है। अनेक आचार्यों ने इस पर अपना मनोचिंतन प्रस्तुत किया है। आचार्य हरिभद्रसूरी का स्थान भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। शोधार्थी महेन्द्रकुमार रांकावत प्रस्तुत कर रहे हैं – आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा वर्णित आठ योग दृष्टियों का विश्लेषण !

– संपादक

स्वनामधन्य आचार्य हरिभद्रसूरि अपने युग के महान् प्रतिभाशाली विद्वान् तथा मौलिक चिन्तक थे। वे बहुश्रुत थे, समन्वयवादी थे, माध्यस्थ-वृत्ति के थे। उनकी अनुपम प्रतिभा और विलक्षण विद्वता उन द्वारा रचित अनुयोगचतुष्टय विषयक धर्मसंग्रहणी (द्रव्यानुयोग), क्षेत्रसमास-टीका (गणितानुयोग), पंचवस्तु, धर्मबिन्दु (चरण-करणानुयोग), समराइच्चकहा (धर्मकथानुयोग) तथा अनेकान्तजयता (न्याय) का एवं भारत के तत्कालीन दर्शनशास्त्रों से संबद्ध षड्दर्शन-समुच्चय आदि अनेक ग्रंथों से प्रकट है। योग के संबन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह न केवल जैनयोग साहित्य में वरन् आर्यों के योग विषयक चिन्तन में एक निरुपम मौलिक वस्तु है। उन्होंने योग पर 'योग दृष्टि समुच्चय' तथा 'योगबिन्दु' नामक दो पुस्तकें संस्कृत में एवं 'योगशतक' और 'योगविंशिका' नामक दो पुस्तकें प्राकृत में रची, जिनमें योगदृष्टि समुच्चय का मौलिक चिन्तनात्मक उद्भावना की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यह प्रसादपूर्ण प्राञ्जल संस्कृत में दो सौ अट्ठाईस अनुष्टुप् छन्दों में है। आचार्यवर ने इसमें नितान्त मौलिक और अभिनव चिन्तन दिया है।

जैन शास्त्रों में आध्यात्मिक विकास-क्रम का वर्णन चतुर्दश गुण-स्थान के रूप में किया गया है। आचार्य हरिभद्र ने आत्मा के विकास-क्रम को योग की पद्धति पर एक नये रूप में व्याख्यायित किया। उन्होंने इस क्रम को आठ योगदृष्टियों के रूप में विभक्त किया, यथा – मित्रा तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा तथा परा।[१]

उन्होनें उन्हें संक्षेप में परिभाषित करते हुए लिखा है - **"तृण के अग्निकण, गोमय (गोबर) या उपले के अग्निकण, काठ के अग्निकण, दीपक की प्रभा, रत्न की प्रभा, तारे की प्रभा, सूर्य की प्रभा तथा चन्द्र की प्रभा के सदृश साधक की दृष्टि आठ प्रकार की होती है।**[२]

वे दृष्टियाँ इस प्रकार हैं –

१. मित्रा दृष्टि

तृणों या तिनकों की अग्नि नाम से अग्नि तो कही जाती है, पर उसके सहारे किसी वस्तु का स्पष्ट रूप से दर्शन नहीं हो पाता। उसका प्रकाश क्षण भर के लिए होता है, फिर मिट जाता है। बहुत मंद, धुंधला और हल्का होता है। मित्रा दृष्टि के साथ भी इसी प्रकार की स्थिति है। उसमें बोध की एक हल्की-सी ज्योति एक झलक के रूप में आती तो है, पर वह टिकती नहीं।

---

१. योगदृष्टि समुच्चय १३ २. योगदृष्टि समुच्चय १५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः तात्त्विक या पारमार्थिक दृष्ट्या उससे अभीप्सित बोध हो नहीं पाता। वह अल्पस्थितिक होती है। इसलिए कोई संस्कार निष्पन्न कर नहीं पाती, जिसके सहारे व्यक्ति आध्यात्मिक बोध की ओर गति कर सके। केवल इतना सा उपयोग इसका है, बोधमय प्रकाश की एक हल्की सी रश्मि आविर्भूत हो जाती है, जो मन में आध्यात्मिक उद्‌बोध के प्रति किञ्चित् आकर्षण उत्पन्न कर जाती है। संस्कार निष्पत्ति नहीं पाता इसलिए ऐसे व्यक्ति द्वारा भावात्मक दृष्टि से शुभ कार्यों का समाचरण यथावत् रूप में सधता नहीं, मात्र बाह्य या द्रव्यात्मक दृष्टि से वैसा होता है।

२. तारा दृष्टि

तारा दृष्टि में समुत्पद्यमान बोध गोमय (गोबर) या उपलों के अग्निकणों से उपमित किया गया है। तिनकों के अग्निकण और उपलों के अग्निकण प्रकाश तथा उष्मा की दृष्टि से कुछ तरतमता लिए रहते हैं। तिनकों की अग्नि की अपेक्षा उपलों की अग्नि के प्रकाश एवं उष्मा कुछ विशिष्टता लिए रहते हैं, पर बहुत अन्तर नहीं होता। उपलों की अग्नि का प्रकाश भी अपेक्षाकृत अल्पकालिक होता है। लम्बे समय तक टिक नहीं पाता। इसलिए इसके सहारे किसी भी वस्तु का सम्यक्‌दर्शन नहीं हो सकता। तारा दृष्टि की ऐसी ही स्थिति है। उसमें बोधमय प्रकाश की जो झलक उद्‌भासित होती है, यद्यपि वह मित्रादृष्टि में होने वाले प्रकाश से कुछ तीव्र अवश्य होती है पर स्थिरता, शक्तिमत्ता आदि की अपेक्षा से अधिक अन्तर नहीं होता, इसलिए उससे भी साधक का कोई विशेष कार्य नहीं सधता, इतना सा है, मित्रा दृष्टि में जो झलक मिली थी वह किञ्चित् अधिक ज्योतिर्मयता के साथ साधक को तारा दृष्टि में स्वायत्त हो जाती है। तरतमता की दृष्टि से इसमें कुछ वैशेष्य आता है।

३. बला दृष्टि -

जैसे काष्ठ की अग्नि का प्रकाश कुछ स्थिर होता है, अधिक समय टिकता है, कुछ शक्तिमान् भी होता है, इसी प्रकार बलादृष्टि में उत्पन्न बोध आया और गया – ऐसा नहीं होता। वह कुछ टिकता भी है, सशक्त भी होता है। इसलिए (वह) संस्कार भी छोड़ता है। छोड़ा हुआ संस्कार ऐसा होता है, जो तत्काल मिटता नहीं। स्मृति में आस्थित हो जाता है। वैसे संस्कार की विद्यमानता साधक को जीवन में वास्तविक लक्ष्य की ओर उद्‌बुद्ध रहने को प्रेरित करती है, जिससे साधक में सत्कर्म के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति की परिणति चेष्टा या प्रयत्न में होती है।

४. दीप्रा दृष्टि -

दीप्रा दृष्टि में होनेवाला बोध दीपक की प्रभा से उपमित किया गया है। पूर्वोक्त तीन दृष्टियों में उपमान के रूप में जिन-जिन प्रकाशों का उल्लेख हुआ है, दीपक का प्रकाश उनसे विशिष्ट है। वह लम्बे समय तक टिकता है। उसमें अपेक्षाकृत स्थिरता होती है। वह सर्वथा अल्प बल नहीं होता। उसके सहारे पदार्थ को देखा जा सकता है। उसी प्रकार दीप्रा दृष्टि में होने वाला बोध उपर्युक्त दृष्टियों के बोध की अपेक्षा दीर्घकाल तक टिकता है, अधिक शक्तिमान् होता है। बला दृष्टि की अपेक्षा कुछ और दृढ़ संस्कार छोड़ता है जिससे साधक की अन्तःस्फूर्ति, सत्क्रिया के प्रति प्रीति और तदुन्मुख चेष्टा की स्थिति बनी रहती है। इतना तो होता है, पर साधक के क्रिया-कलाप में अब तक सर्वथा अन्तर्भावात्मकता नहीं आ पाती, द्रव्यात्मकता या बहिर्मुखता ही रहती है। वन्दन, नमस्कार, अर्चना, उपासना – जो कुछ वह करता है, वह द्रव्यात्मक, यांत्रिक या बाह्य ही होती है। सत्क्रिया में संपूर्ण तन्मयता का भाव उस पुरुष में आ नहीं पाता, इसलिए वह क्रिया आन्तरिकता से नहीं जुड़ पाती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. स्थिरा दृष्टि -

स्थिरा दृष्टि को रत्न की प्रभा से उपमित किया गया है। साधक की यह वह स्थिति है, जहाँ उसे प्राप्त बोध-ज्योति स्थिर हो जाती है। रत्न की प्रभा कभी मिटती नहीं। वह सहजतया प्रदीप्त रहती है। वैसे ही स्थिरा दृष्टि में प्राप्त बोधमय उद्योत स्थिर रहता है। क्योंकि तब तक साधक का ग्रन्थि-भेद हो चुकता है। राग, द्वेष आदि विभाव-ग्रथित दुरुह कर्म-ग्रंथि वहाँ खुल चुकती है। दृष्टि सम्यक् हो जाती है। मिथ्या अध्यास मिट जाता है। यहाँ से भेदविज्ञान की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। आत्मा और पर पदार्थों की भिन्नता का साधक अनुभव करता है। पर में जो स्व की बुद्धि थी, उस पर सहसा एक चोट पड़ती है, साधक के अन्तरतम में आत्मोन्मुख भाव हिलोरें लेने लगते हैं। इतना ही नहीं, जैसे रत्न का प्रकाश पाषाण यंत्र आदि पर घर्षण, परिष्करण एवं परिमार्जन से और बढ़ जाता है, उसी प्रकार सम्यक्दृष्टि साधक का बोध, सद् अभ्यास, आत्मानुभूति, सद्चिन्तन आदि द्वारा उज्ज्वल से उज्ज्वलतर होता जाता है।

रत्न का प्रकाश स्वावलम्बी होता है। उसे अपने लिए अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती। तेल समाप्त हो जाने पर जैसे दीपक बुझ जाता है, वैसी बात रत्न के साथ नहीं है। न उसे तैल चाहिए और न बाती। वह प्रकाश निरपाय या निर्बाध है। वह अपाय या बाधा से प्रतिबद्ध एवं व्याहत नहीं होता। उसे दूसरा अवलम्बन नहीं चाहिए। यही स्थिति स्थिरादृष्टि की है। स्थिरादृष्टि का बोध परावलम्बी नहीं होता, स्वावलम्बी होता है। उसे कहीं से कोई हानि पहुँचने की आशंका नहीं रहती।

तृण, कण्डे, काष्ठ और दीपक का प्रकाश दूसरों के लिए परिताप कारक भी हो सकता है। यदि ठीक से उपयोग न किया जाए तो उनसे आग आदि लगकर हानि भी हो सकती है। रत्न के प्रकाश में ऐसा नहीं है। वह सर्वथा अपरितापकर है। स्थिरा दृष्टि का बोध भी किसी के लिए परितापकर नहीं होता। वह मृदुल और शीतल होता है, क्योंकि क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय वहाँ उपशान्त हो जाते हैं।

परिताप न देने की बात निषेधात्मक है। विध्यात्मक दृष्टि से स्थिरादृष्टि का बोधमय प्रकाश रत्न की प्रभा की तरह औरों के लिए प्रसादकर होता है। रत्न की कान्ति को देखने से जैसे नेत्र शीतल होते है, चित्त उल्लसित होता है, उसी तरह स्थिरादृष्टि में प्राप्त बोध से आत्मा में परितोष होता है। प्रसन्नता होती है। जिस प्रकार रत्न को देख लेने वाला तुच्छ काच जैसी वस्तु की ओर आकृष्ट नहीं होता, उसी प्रकार स्थिरादृष्टि के बोध द्वारा जिसे आत्मदर्शन प्राप्त हो जाता है, फिर आत्मेतर – पर या बाह्य वस्तुओं में उसे विशेष औत्सुक्य रह नहीं जाता।

जहाँ आभामय रत्न पड़ा है, उसके चारों ओर जो भी होता है, यथावत् एवं स्पष्ट दिखाई देता है। वैसे ही स्थिरादृष्टि में प्राप्त बोध से आत्मदर्शन तो होता ही है, तदितर पदार्थ भी दृष्टिगोचर होते हैं। इससे द्रष्टा या दर्शक दृश्यमान वस्तु का उपयोगिता, अनुपयोगिता की दृष्टि से यथार्थ मूल्यांकन कर पाता है।

६. कान्तादृष्टि -

ग्रंथकार ने कान्ता दृष्टि को तारे की प्रभा की उपमा दी है। रत्न का प्रकाश हृद्य होता है, उत्तम होता है, पर तारे के प्रकाश जैसी दीप्ति उसमें नहीं होती। तारे का प्रकाश रत्न के प्रकाश से अधिक उद्दीप्त होता है। उसी तरह स्थिरादृष्टि में प्राप्त बोध की अपेक्षा कान्तादृष्टि का बोध अधिक प्रगाढ़ होता है। तारे की प्रभा आकाश में स्वाभाविक रूप में होती है, सुनिश्चित होती है, अखंडित होती है। उसी प्रकार कान्तादृष्टि का बोध – उद्योत अविचल, अखंडित और प्रगाढ़ रूप में चिन्मय आकाश में सहजरूपेण समुदित रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस दृष्टि को कान्ता नाम देने में भी आचार्यवर का अपना विशेष दृष्टिकोण रहा है। कान्ता का अर्थ लावण्यमयी प्रियंकरी गृहस्वामिनी होता है। ऐसी सन्नारी पतिव्रता होती है। पतिव्रता नारी की यह विशेषता है कि वह घर, परिवार तथा जगत् के सारे कार्य करती हुई भी अपना चित एकमात्र अपने पति से जोड़े रहती है। उसके चिन्तन का मूल केन्द्र उसका पति होता है। कान्तादृष्टि में पहुँचा हुआ साधक आवश्यकता एवं कर्तव्य की दृष्टि से जहाँ जैसा करना अपेक्षित है, वह सब करता है, पर उसमें आसक्त नहीं होता। अन्ततः उसका मन उसमें रमता नहीं है। उसका मन तो एकमात्र श्रुत-निर्दिष्ट धर्म में ही लीन रहता है। उसके चिन्तन का केन्द्र आत्मस्वरूप में संप्रतिष्ठ होता है। वह अनासक्त कर्मयोगी की स्थिति पा लेता है। गीताकार ने ऐसे अनासक्त कर्मयोगी का बड़ा सुन्दर भाव-चित्र उपस्थित किया है। कहा है –

"तुम्हारा कर्म करने में ही अधिकार है, फल में नहीं। कर्म-फल की वासना कभी मत रखो और अकर्म-कर्म न करने में भी तुम्हारी आसक्ति न हो।"[1]

कान्तादृष्टि प्राप्त गीताकार के शब्दों में उत्कृष्ट, निष्काम, स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी की भूमिका का सम्यक् निर्वाह करता है।

वैसी स्थिति प्राप्त कर लेने के कारण सत्क्रिया के भावानुष्ठान में वह सोत्साह संलग्न रहता है। अनुष्ठान शब्द अपने आप में बड़ा महत्वपूर्ण है। अनु उपसर्ग का अर्थ पीछे या अनुरूप है। सम्यक् ज्ञानी की क्रिया उस द्वारा प्राप्त आत्मज्ञान के अनुरूप या उसका अनुसरण करती हुई गतिशील रहती है। वह भावक्रिया है। वहाँ क्रियमाण कर्म में केवल दैहिक योग नहीं होता, आत्मा का लगाव होता है। वैसा पुरुष अनवरत धर्म के आचरण या सच्चारित्र्य के अनुपालन में उद्यमशील रहता है। एक ऐसी अन्तर्जागृति साधक में उत्पन्न हो जाती है कि वह स्वभाव में अनुरत और पर-भाव से विरत रहने में इच्छाशील एवं यत्नशील रहता है। पर-भाव से पृथक् रहने के समुद्यम का यह प्रतिफल होता है कि उसके सद् आचरण में कोई अतिचार-प्रतिकूल कर्म या दोष नहीं होता। अशुभ-पापमूलक, शुभ/पुण्यमूलक उपयोग से ऊँचा उठकर वह साधक शुद्धोपयोग के अनुष्ठान की भूमिका में अवस्थित हो जाता है। आत्मा के निर्लिप्त-राग, द्वेष, मोह आदि से असंपृक्त शुद्ध स्वरूप की भव्य भावना का वह अनुचिन्तन करता है।

ऐसे साधक की प्रमाद रहित साधना-भूमि और विशिष्ट बनती जाती है। ऐसा अप्रमाद वह अधिगत कर लेता है कि फिर उसको उसके स्वरूप से भ्रष्ट या च्युत करने वाला प्रमाद वहाँ फटक नहीं सकता।

ऐसे साधक की एक विशेषता और होती है, साधना के अनुभव-रस का जो पान वह कर चुका होता है, ज्ञान एवं दर्शन का जैसा प्रत्यय, बोध, अनुभव वह पा चुका होता है, उससे औरों को भी लाभ मिले, औरों को भी वह ऐसे मार्ग के साथ जोड़ सके, इस प्रकार का उद्यम भी उसका रहता है।

निर्मल आत्मज्ञान के उद्योत के कारण ऐसे साधक का व्यक्तित्व धर्म के आचरण की दृष्टि से बहुत गंभीर और उदार भूमिका का संस्पर्श कर जाता है, समुद्र की सी गंभीरता उसके व्यक्तित्व का विशेष गुण हो जाता है।

७. प्रभादृष्टि :-

ग्रंथकार ने प्रभादृष्टि को सूर्य के प्रकाश की उपमा दी है। तारे और सूर्य के प्रकाश में बहुत बड़ा अन्तर है।

१. श्रीमद्भगवद्गीता – २,४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तारे की अपेक्षा सूर्य का प्रकाश अनेक गुना अधिक, अवगाढ़ तथा तीव्र तेजोमय होता है। प्रभादृष्टि का बोध-प्रकाश भी अत्यन्त ओजस्वी एवं तेजस्वी होता है। कान्ता दृष्टि की अपेक्षा प्रभादृष्टि के प्रकाश की प्रगाढ़ता बहुत अधिक बढ़ी चढ़ी होती है। सूर्य के प्रकाश से सारा विश्व प्रकाशित होता है। उसके सहारे सब कुछ दीखता है। ऐसी ही स्थिति प्रभा दृष्टि की है। वहाँ पहुँचे हुए साधक को समग्र पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। प्रचुर तेजोमयता तथा प्रभाशालिता के कारण आचार्यप्रवर ने इस दृष्टि का नाम 'प्रभा' रखा, जो बहुत संगत है।

जहाँ इस कोटि का बोधमूलक प्रकाश उद्‌भासित होता है, वहाँ साधक की स्थिति बहुत ऊँची हो जाती है। वह सर्वथा अखंड आत्मध्यान में निरत रहता है। ऐसा होने से उसकी मनोभूमि विकल्पावस्था से प्रायः ऊँची उठ जाती है। ऐसी उत्तम, अविचल, ध्यानावस्था से आत्मा में अपरिसीम सुख का स्रोत फूट पड़ता है। वह सुख परमशान्ति रूप होता है, जिसे पाने के लिए साधक साधना-पथ पर गतिमान् हुआ। वह ऐसा सुख है, जिसमें आत्मेतर किसी भी पदार्थ का अवलम्बन नहीं होता। वह परवश से सर्वथा अस्पृष्ट होता है।

यहाँ साधक का प्रातिभ ज्ञान या अनुभूतिप्रसूत ज्ञान इतना प्रबल एवं उज्ज्वल हो जाता है कि उसे शास्त्र का प्रयोजन नहीं रहता। ज्ञान की प्रत्यक्ष या साक्षात् उपलब्धि उसे हो जाती है। आत्मसाधना की यह बहुत ऊँची स्थिति है। उस समाधिनिष्ठ योगी की साधना के परम दिव्य भाव-कण आस-पास के वातावरण में एक ऐसी पवित्रता संभृत कर देते है कि उस महापुरुष के सान्निध्य में आनेवाला जन्मजात शत्रुभावापन्न प्राणी भी अपना वैर भूल जाते हैं। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है, सचाई है। ऐसे महान् योगी की परमदिव्य करुणा, जिसे जैन एवं बौद्ध वाङ्मय में 'महाकरूणा' कहा गया है, का ऐसा अमल, धवल स्रोत फूट पड़ता है कि वह (योगी) अन्य प्राणियों का भी उपकार करना चाहता है, उन्हें श्रेयस् और कल्याण का मार्ग दिखाकर अनुगृहीत करना चाहता है। यह सब स्वभावगत परिणामधारा से सम्बन्ध है। वहाँ कृत्रिमता का लेश भी नहीं होता।

८. परादृष्टि :-

सूरिवर्य ने परादृष्टि को चन्द्रमा की प्रभा से उपमित किया है। सूर्य का प्रकाश बहुत तेजस्वी तो होता है पर उसमें उग्रता होती है। इसलिए आलोक देने के साथ-साथ वह उत्ताप भी उत्पन्न करता है। सूर्य की अपेक्षा चन्द्र के प्रकाश में कुछ अद्‌भुत वैशिष्ट्य है। वह अत्यन्त शीतल परम सौम्य तथा प्रशान्त होता है। सहज रूप में सब के लिए आनन्द, आह्लाद और उल्लास प्रदान करता है। प्रकाशकता की दृष्टि से सूर्य के प्रकाश से उसमें न्यूनता नहीं है। सूर्य दिन में समग्र को प्रकाशित करता है तो चन्द्रमा रात में। दोनों का प्रकाश अपने आप में परिपूर्ण हैं, पर हृद्यता, मनोज्ञता की दृष्टि से चन्द्रमा का प्रकाश निश्चय ही सूर्य के प्रकाश से उत्कृष्ट कहा जा सकता है।

परादृष्टि साधक की साधना का उत्कृष्टतम रूप है। चन्द्र की ज्योत्स्ना सारे विश्व को उद्योतित करती है। उसी तरह अर्थात् सोलह कलायुक्त, परिपूर्ण चन्द्र की ज्योत्स्ना के सदृश परादृष्टि में प्राप्त बोध-प्रभा समस्त विश्व को, जो ज्ञेयात्मक है, उद्योतित करती है। साधक इस अवस्था में इतना आत्मविभोर हो जाता है कि उसकी बोध-ज्योति उद्योत तो अव्यावाध रूप में सर्वत्र करती है, पर अपने स्वरूप में अधिष्ठित रहती है। उद्योत्य/प्रकाश्य या ज्ञेय रूप नहीं बन जाती। चन्द्र ज्योत्स्ना यद्यपि समस्त जागतिक पदार्थों को आभामय बना देती है, पर पदार्थमय नहीं बनती, वैसे ही परादृष्टि में पहुँचा हुआ साधक ऐसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही सर्वथा स्वाश्रित, स्वभावनिष्ठ, दिव्य, सौम्य बोध-ज्योति से आभासित रहता है। उसकी स्थिति सर्वथा आत्मपरायण अथवा स्वभावपरायण बन जाती है, जिसे वेदान्त की भाषा में विशुद्ध-केवल 'अद्वैत' से उपमित किया जा सकता है।

साधक की यह सद्ध्यान रूप दशा है, जिसमें अव्यवहित तथा निरन्तर आत्मसमाधि विद्यमान रहती है। आत्मस्वरूप में निष्प्रयास परिरमण की यह उच्चतम दशा है, जिसका सुख सर्वथा निर्विकल्प है। बोध तो निर्विकल्प है ही। बोध और सुख की निर्विकल्पता में ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी, ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की त्रिपदी एकमात्र अभेद-आत्मस्वरूप में परिणत हो जाती है, जहाँ द्वैतभाव सर्वथा विलय पा लेता है। यह साधक की परम आनन्दावस्था है, परं ब्रह्मनिष्ठ योगी वहाँ आनन्दघन बन जाता है। परम आत्मसुख या अनुपम ब्रह्मानन्द का वह आस्वाद लेता है। साध्य सध जाता है, करणीय कृत हो जाता है, प्राप्य प्राप्त हो जाता है। •••

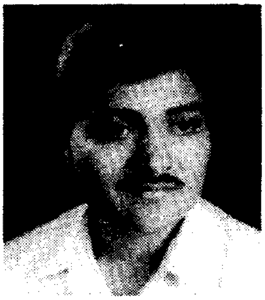

❑ श्री महेन्द्र कुमार जी रांकावत संस्कृत, सांख्य, योग, न्याय, वेदान्त एवं जैन जैनेत्तर दर्शनों के अभिरुचिशील अध्येता एवं युवा लेखक है। शोधार्थी भी। प्रो. डॉ. छगनलाल जी शास्त्री के निकटतम अन्तेवासी है। विज्ञान में स्नातक होने के पश्चात् संस्कृत में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। सम्प्रति : शोधकार्य में संलग्न ! युवाओं के लिए अनुकरणीय रांकावत से साहित्य जगत् को बहुत ही अपेक्षाएं हैं।

— सम्पादक

जीवन व्यवहार में कठोर वचन, क्रोध के वचन, अहंकार के वचन तथा अहंकार की वाणी काम नहीं देती। इससे मुसीबतें खड़ी हो जाती हैं, आदमी विपद्ग्रस्त हो जाता है। इसके विपरीत नम्रता धारण करने से व्यक्ति संकटों से उबर जाता है।

✤ ✤ ✤

जाति-समाज और राष्ट्र में समय-समय पर असर प्रबुद्ध नारी-जीवन का ही रहा है, जिसने स्वयं के साथ व्यक्ति व समाज को नई दिशा दी है। मात्र धर्मक्षेत्र में ही नहीं अपितु कर्म क्षेत्र में भी वे अग्रणी रही हैं।

✤ ✤ ✤

आपने कभी ध्यान दिया हो सत्ताधीश लोग जब गद्दी पर बैठे होते हैं तब और, जब गद्दी से उतर जाते हैं तब दशा और हो जाती है। जिस सताधीश में परार्थ वृत्ति रहती है वह सदा ही यश का पात्र होता है, आत्म सन्तुष्ट होता है। जो स्वार्थी होता है और किसी के प्रति उदारता, सहयोग नहीं करता जनता में अपयश का भागीदार बन कर पतित हो जाता है।

— सुमन वचनामृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org